आपने लिखा

संदर्भ का पंद्रहवां अंक पढ़ा। इसमें वी. एस. डबीर द्वारा लिखित 'चुंबक मैं और वह शिक्षक' से एक नई जानकारी मिली। वृद्ध होते हुए भी उनकी जिज्ञासा काबिले तारीफ है।

मैं कक्षा आठ में विज्ञान पढ़ाता हूं और लेख में बताए शिक्षक की तरह बच्चों को चुंबकत्व नष्ट होने के यह किताबी कारण ही बताता हूं। बच्चों द्वारा कभी ऐसा प्रश्न नहीं किया गया कि चुंबक को कितने बार पीटने या कितना गर्म करने पर चुंबकत्व नष्ट हो जाता है? इसलिए मैंने भी कभी इस बात पर विचार नहीं किया। अब आगामी वर्षों में चुंबक के बारे में नई जानकारी बच्चों को मिल सकेगी। इसी अंक में अंतिम पृष्ठ पर 'चींटी का शिकार' भी अच्छा लगा।

अब संदर्भ को बेहतर बनाने के लिए सुझाव व शिकायत : इसमें विज्ञान मॉडलों को भी स्थान दीजिए साथ ही इसकी वितरण व्यवस्था अच्छी कीजिए। जनवरी-फरवरी 97 का अंक अप्रैल में मिला।

राजश्वर पारवाल
रामपुरा, मंदसौर, म. प्र.

मैं संदर्भ और चकमक दोनों की नियमित पाठिका हूं। ये दोनों पत्रिकाएं रोचक व ज्ञानवर्द्धक हैं। इनको पढ़कर मुझे विज्ञान की जटिलताओं को समझने में सुगमता हुई। मुझे बंकर में जीवन, संयोजकता, सूत्र और समीकरण, धरती भी गोल ही निकली ये लेख रोचक लगे। बातचीत की शैली में लिखे ये लेख विषय की भ्रांतियों को दूर करते हैं। बाल की खाल निकालने वाली वर्णन शैली विषय के प्रत्येक गंभीर पहलू को छूती है। पत्रिका में छपे चित्र अच्छे लगे।

नेहा महाजन,
अभिनव पब्लिक स्कूल, हरसूद, म. प्र.

चौदहवां अंक मुझे मेरे भैया, ने उपहार सदस्यता के अंतर्गत दिलवाया। पत्रिका मिलने के बाद मुझे खुशी भी हुई और अफसोस भी। अफसोस इस बात का कि मुझे इस पत्रिका के बारे में पहले कुछ भी नहीं मालूम था इसलिए मैं इसके पिछले कई अंक नहीं पढ़ पाई। और खुशी इस बात की कि इसमें पाठ्यक्रम से जुड़े कुछ लेख थे। यह पत्रिका हाई स्कूल, हायर सेकेंडरी तथा मिडिल स्कूल के बच्चों के लिए बहुत उपयोगी है।

इस अंक में 'तीन स्विचों से जला बल्ब' पढ़कर नई जानकारी मिली। 'बुन्सन बर्नर ....' एक रोचक लेख लगा; क्योंकि मुझे ज्ञात हुआ कि आज तक हम जो ऑक्सीजन की उपस्थिति वाला प्रयोग करते थे वह हवा में ऑक्सीजन की मात्रा को बिल्कुल नहीं दिखता।

'एक जीवनी की तलाश' यह लेख मुझे बिल्कुल समझ में नहीं आया। इस बात का मुझे अफसोस भी है और नाराज़गी भी। 'एक शाम जादूगर के साथ'

मुझे बहुत अच्छी लगी। इस कहानी को मैंने न जाने कितने लोगों को पढ़वाया है।

मंजूषा, जामुल सीमेंट वर्क्स,
जामुल, रायपुर, म प्र.

एक संस्था के मार्फत संदर्भ का बारहवां अंक पढ़ने को मिला। मैं इस पत्रिका का नियमित पाठक बनना चाहता हूं।

उजेन्द्र सिंह वर्मा, बढ़ई टोला,
खैरागढ़, राजनांदगांव,

पत्रिका का जनवरी-फरवरी 97 का अंक पढ़ा। 'आपने लिखा' स्तम्भ में सुश्री मंजुला का खत पढ़ा। इस संबंध में मैं बताना चाहता हूं कि 'हरियाणा विज्ञान मंच' बच्चों के बीच विज्ञान लोकप्रियकरण के लिए कार्यरत है। अधिक जानकारी के लिए आप *हरियाणा विज्ञान मंच सेक्टर 16- ए, फरीदाबाद* पर सम्पर्क साध सकती हैं।

रमेश श्योरान
सेक्टर 15, फरीदाबाद

संदर्भ सजिल्द – अंक 7 से 12

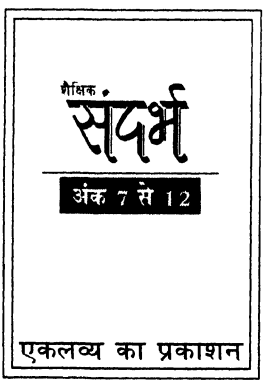

संदर्भ सजिल्द: संदर्भ के सातवें से बारहवें अंक का सजिल्द संस्करण। इन अंकों में जो सामग्री प्रकाशित हुई, उनका विषयवार इंडेक्स संस्करण के साथ है। संस्करण का मूल्य 60/– रुपए (डाक खर्च सहित) है।

राशि कृपया डिमांड ड्राफ्ट या मनीऑर्डर से भेजें। ड्राफ्ट एकलव्य के नाम से बनवाएं। अधिक जानकारी के लिए संपर्क करें:

एकलव्य
कोठी बाज़ार
होशंगाबाद – 461 001

एकलव्य
ई-1/25, अरेरा कॉलोनी
भोपाल – 462 016

शीर्षक, विवाद और विज्ञान

'संदर्भ' के बारहवें अंक में जब मेरा लेख छपा था तब उसका शीर्षक 'गुम होती बोलियां' देखकर मुझे खासा झटका लगा था। मैंने सोचा था कि मैं इस शीर्षक से अपनी असहमति व इससे पैदा हो सकने वाली भ्रान्तियों के बारे में एक खत 'संदर्भ' को लिखूंगी, परन्तु अन्यान्य कारणों से यह काम टल गया। अब संदर्भ का 15 वां अंक हाथ में है। अंक में छपे दिलीप झा व डॉ. सबरवाल के पत्रों ने मुझे उक्त विषय पर कुछ कहने के लिए बाध्य कर दिया है।

मेरे इस लेख का शीर्षक संपादक मंडल ने तय किया था। लेख छपते ही मुझे समझ में आ गया था कि मैं अपनी बात संपादकों तक भी नहीं पहुंचा पाई जिन्होंने इस लेख को एकदम गलत शीर्षक दे दिया। इस लेख के माध्यम से मैंने, हमारे देश की भाषाई विविधता की तथ्यात्मक जानकारी, भाषा व बोली के बीच कहे जाने वाले अन्तरों की समीक्षा और संविधान द्वारा मान्यता प्राप्त भाषाओं व उनसे जुड़े प्रश्नों को पेश करने का एक छोटा-सा प्रयास किया था। यदि बोलियों को लेकर मेरी चिन्ता अभिव्यक्त हुई तो वह उनको मिलने वाले असमान दर्जे से जुड़ी थी, न कि गुम होने से। राजनैतिक संहार से जातियों, भाषाओं व संस्कृतियों को दबाने, मिटा देने, लोप कर देने का प्रयास सत्ताधारियों की साज़िश व मध्यम वर्ग की मूक सहमति के तहत होता है। एक तरफ विकास और दूसरी तरफ आदिवासियों की तहस-नहस होती संस्कृतियों, ज़िंदगियों की गाथाओं से भरा हुआ है हमारा इतिहास; जो इस साज़िश की गवाही देता है। भाषा और बोलियों में जानबूझकर भेद करना व उसे बनाए रखना भी इसी साज़िश का हिस्सा है।

इसी संदर्भ में मैंने उन पहलुओं को छूने का प्रयास भी किया था जिनके द्वारा आम लोगों की भाषा, आवाज़, अभिव्यक्ति, संस्कृति – पिछड़ी या गंवारू ठहरा दी जाती है। पर 'गुम होती बोलियां' शीर्षक ने जीवंत भाषाओं को संग्रहालय में रखी जाने वाली 'वस्तुओं' के समकक्ष रख दिया; जिनका इस्तेमाल न होने के कारण उन्हें बचाने व संग्रहालय में संजो कर रखने की

बात होती है। मेरी आशंका सही थी। इस शीर्षक ने भ्रान्तियां पैदा की। अंक-15 में छपे दोनों पत्रों से इसकी झलक मिलती है। इस शीर्षक से ऐसा आभास होता है जैसे मैं कुछ चन्द लोगों द्वारा बोली जाने वाली भाषाओं को 'बचाने' की गुहार कर रही हूं या जैसा कि डॉ. सबरवाल ने कहा कि 'घड़ियाली आंसू' बहा रही हूं।

परन्तु बात मात्र 'शीर्षक' की नहीं है। मुझे डॉ. आर. सबरवाल व दिलीप झा दोनों की टिप्पणियां बहुत रोचक लगीं। ज़ाहिर है कि इन दोनों के 'हिन्दी प्रेम' को मेरे लेख से काफी झटका लगा है। इसलिए लेख को 'हिन्दी विरोधी' करार कर देने के अलावा उसके किसी भी अन्य मुद्दे पर विचार करने की ज़रूरत इन्हें नहीं हुई। आमतौर पर तथ्यात्मक जानकारी लोगों को काफी झकझोरती है। पर आश्चर्य है कि भाषा के प्रश्न पर प्रस्तुत तथ्य भी यह करने में असफल हैं। ऐसी जानकारी तो 'ज्ञान-विज्ञान' का दर्जा तक नहीं पाती। यह मात्र 'हिन्दी प्रेम' नहीं है। यह अपनी भाषा, अपनी संस्कृति को श्रेष्ठ मानने का दंभ है। तभी तो बिना कोई आधार दिए दिलीप झा जी पूर्वाग्रह पाले बैठे हैं कि हर अन्य भाषा बोलने वाला, हिन्दी तो जानता ही है या यह कि मध्य प्रदेश में तो खड़ी हिन्दी का ही प्रयोग होता है। अहिन्दी भाषी लोगों के प्रति इनकी असंवेनशीलता को क्या कहा जाए, वे स्वयं ही तय करें।

डॉ. सबरवाल कहते हैं कि 'आज की उपभोक्ता संस्कृति में वही भाषा अहम भूमिका निभाएगी जो रोज़ी-रोज़गार से जुड़ी होगी।' इस तरह की दलील दो अहम चीज़ों को जानबूझकर अनदेखा करती है। पहला रोज़ी-रोज़गार का संबंध – कितना आर्थिक नीतियों पर निर्भर है व कितना मात्र भाषा पर? क्या सबके अंग्रेज़ी सीख जाने से सबको रोज़ी-रोज़गार मिल जाएगा? दूसरा, हमारे समाज में उपभोक्ता संस्कृति के खिलाफ उठ रही आवाज़ व संघर्षों से अनभिज्ञता। क्या डॉ. सबरवाल उपभोक्ता संस्कृति की दुहाई देते हुए हमें यह भी बताएंगे कि स्त्री सुन्दरता के मापदण्ड वही होंगे जो उपभोक्ता संस्कृति तय करेगी?

मुझे आश्चर्य नहीं कि दिलीप झा जी ने मुझे 'हिन्दी विरोधी' होने का खिताब दिया। मैं तो अपने आपको 'हिन्दी प्रेमी' मानती हूं पर मैं बुन्देली, तमिल, बघेली, बंगाली, कोरकू.... प्रेमी भी हूं। मैं हिन्दी या अन्य किसी भी भाषा को लादने व विविधता को दमनात्मक तरीके से

खत्म करने की कोशिशों की विरोधी हूं। भाषाएं मेरे लिए दुनिया के लोगों को समझने, जानने, पहचानने का माध्यम हैं।

पत्रों के लेखकों का एक और पूर्वाग्रह है कि दिल्ली में सब लोग अंग्रेज़ी में ही शिक्षा-दीक्षा पाते हैं। गोया कि दिल्ली में सब धनवान हैं। आप दोनों की जानकारी के लिए (मेरा पूरा विश्वास है कि जो मैं अगले वाक्यों में कहने जा रही हूं वह आप अच्छी तरह जानते हैं पर 'दिल्ली वाली' कहकर लताड़ने का सुख पाने के लिए अपनी इस जानकारी को दबा देना ही आपके लिए सुविधाजनक है,) दिल्ली में ज़्यादातर आम लोग रहते हैं जो हिन्दी, पंजाबी, उर्दू, सिंधी, गुजराती... भाषाएं बोलते व पढ़ते हैं। इसके अलावा लाखों प्रवासी मज़दूर हैं जो गन्दी बस्तियों में रहते हैं और विषम परिस्थितियों में जीते हुए भी अपनी भाषा, संस्कृति व अस्मिता बचाए रखने का प्रयास करते हैं। मेरी शिक्षा भी इस महानगर की नगर पालिका व सरकारी शालाओं में मुख्यतः हिन्दी भाषा में हुई। कॉलेज की पढ़ाई में मेरे ऊपर पूरी तरह से अंग्रेज़ी लदी। 'मैं' हमारी शिक्षा व्यवस्था का वह नमूना हूं जिसे कॉलेज तक की 'उच्च' पढ़ाई के बाद न हिन्दी आती थी न अंग्रेज़ी। मैंने भाषा का रस लेना, उसकी गहराई को समझना, उसकी समृद्धि को जानना व लिखना होशंगाबाद के शिक्षकों व मध्य प्रदेश के विभिन्न इलाकों के गांवों के लोगों से सीखा। गांवों के लोगों की उनकी अपनी भाषा पर पकड़, उस पर गर्व व उनकी प्रभावशाली अभिव्यक्ति ने मुझे हमेशा मेरी अपनी गड्ड-मड्ड शिक्षा व कमज़ोर अभिव्यक्ति पर सोचने को मजबूर किया है।

मुझे अंग्रेज़ी की किताबों से उद्धरित करने में कोई शर्म नहीं है। मैं तो विश्व की किसी भी भाषा में पढ़ना चाहूंगी, पढ़कर उद्धरित करना चाहूंगी – यदि मुझे उन जानकारियों, विचारों, विश्लेषणों से समाज की जटिलताओं और विरोधाभासों को समझने व उनसे जूझने में मदद मिले तो; या यदि मुझे पढ़कर मज़ा आए, अच्छा लगे तो। इस संदर्भ में दिलीप झा जी की टिप्पणी मुझे आश्चर्यचकित करती है। 'संदर्भ' में छपे ढेरों चित्र, कई लेख व कहानियां अंग्रेज़ी किताबों से ली जाती हैं। पर इस तथ्य पर उन्हें टिप्पणी करने की ज़रूरत महसूस नहीं हुई। मात्र भाषा के मुद्दे पर लिखे लेख में संदर्भ पुस्तिकाओं का अंग्रेज़ी में होना खला। यह विरोधाभासी व्यवहार कुछ समझ में

नहीं आया। क्या यह इसलिए है क्योंकि वे भाषाओं की जानकारियों को 'भाषाई विवाद' मानते हैं और बाकी सबको 'ज्ञान-विज्ञान'?

अब मैं अन्तिम बिन्दु पर आती हूं। दिलीप झा जी के अनुसार 'संदर्भ का काम ज्ञान-विज्ञान' की जानकारी देना है न कि 'भाषाई विवाद' को जन्म देना। पर भाषाई विविधता व विवाद तो एक सच्चाई है और 'ज्ञान-विज्ञान' की परिभाषा को संकीर्ण करके इसे दबाया नहीं जा सकता।

असल में, मेरा मत है कि इस कथन के द्वारा दिलीप झा जी ने 'संदर्भ' पर एक गहरी व सटीक टिप्पणी कर दी है। क्या शिक्षा या विज्ञान के संदर्भ में विवादों की बात करना, उलझनों की चर्चा करना, सामाजिक जटिलताओं का जिक्र करना, विरोधाभासों को सामने रखना 'ज्ञान' नहीं है?

'ज्ञान' क्या है और क्या नहीं, यह कैसे तय होता है? कौन तय करता है? इस संदर्भ में 'संदर्भ' (पत्रिका) से क्या संदेश मिलता है? विज्ञान, इतिहास, सामाजिक अध्ययन व शिक्षा जैसे विषय के विवाद, उलझनें, जटिलताएं या मुख्यधारा से अलग वैकल्पिक सोच-विचार यदा कदा अपनी झलक 'संदर्भ' में दिखाता है, पर बहुत कम। क्या ये व्यापक परिप्रेक्ष्य 'संदर्भ' का हिस्सा बनेगा कभी?

साधना सक्सेना
दिल्ली

कुछ जवाब, कुछ सवाल

भाषा, बोली और बच्चों का सीखना

तेरहवें अंक में छपे मेरे लेख पर कई पाठकों ने अपनी प्रतिक्रिया भेजी है। मैं उन सबका आभारी हूं। भाषा को लेकर एक संवाद शुरू हो यह आवश्यक है। यह भी आवश्यक है कि वह संवाद वैज्ञानिक हो, तर्कसंगत हो, सामाजिक व ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में हो। इस संवाद को विश्वविद्यालय की चार दीवारी से भी बाहर निकालना है। भाषा सर्वव्यापी है, हमारे ज्ञान, सभ्यता व संस्कृति का स्रोत व माध्यम है, हमारी पहचान है, इसका एक विशेष मानकीकृत

रूप सब से जुड़ा रहता है। जन सामान्य में भाषा के बारे में एक वैज्ञानिक समझ बने बिना सामाजिक बदलाव की संभावना काफी धुंधली पड़ जाती है।

अपने लेख में कुछ आधारभूत बातों के बारे में बातचीत का सिलसिला शुरू करना चाहता था मैं।

(क) भाषा व बोली में संरचना की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं किया जा सकता। अन्तर करने के कारण सामाजिक व राजनैतिक होते हैं।

(ख) बोलियों में से भाषा चुनने का काम सत्ताधारी लोग करते हैं और अपने स्वार्थ हेतु उस भाषा के मानकीकरण एवं विस्तार के लिए तरह-तरह के प्रयास करते हैं।

(ग) हर व्यक्ति भाषा व व्याकरण सीखने की पूर्ण क्षमता रखता है। भाषा सीखने में व्याकरण पढ़ाने का कोई स्थान नहीं है। हर बच्चा अपनी मातृभाषा का व्याकरण स्वयं पकड़ लेता है। यदि उसके परिवेश में अनेक भाषाएं हों तो वह अनेक व्याकरणों को स्वयं आत्मसात करने में समर्थ है।

(घ) एक तरफ तो आप अपनी भाषा में गलती नहीं कर सकते; अपनी मातृभाषा (ओं) में गलत वाक्य बोलने का प्रयास करें; आप उसे तुरन्त सुधार लेंगे; दूसरी ओर बिना त्रुटियों के, एक चरणबद्ध रास्ते से गुज़रे बिना भाषा सीखना संभव नहीं।

शायद एक छोटे-से लेख में इतनी तरह की बातें करना मेरे लिए उचित नहीं था। इससे कुछ बाधा हुई है संप्रेषण में। यह भी संभव है कि कुछ पाठकों ने वही पढ़ा व समझा जो वे पढ़ना व समझना चाहते थे। कुछ स्पष्टीकरण। मैं बिलकुल हिन्दी का विरोधी नहीं हूं। मेरी तीन मातृभाषाओं में से एक हिन्दी है। मैं यह भी मानता हूं कि अंग्रेज़ी के कारण कई हिन्दी-भाषियों को काफी नुकसान होता है। संप्रेषण के ऐसे अनेक क्षेत्र हैं जिनसे अंग्रेज़ी को बिलकुल हटा देना चाहिए एवं स्थानीय भाषाओं का प्रयोग होना चाहिए। लेकिन इन सबसे यह सिद्ध नहीं होता कि हिन्दी भाषा, तमिल, मलयालम, अवधि, ब्रज आदि से किसी भी तरह से अधिक वैज्ञानिक है। आप भाषा कहें, उपभाषा कहें, बोली कहें – जिस माध्यम से भी आप बातचीत करते हैं, वह नियमबद्ध है। 'दिलीप झा' जी की बात, कि भाषा-विज्ञान या व्याकरण को मापदंड बनाकर भाषा व बोली

में विभाजन किया ही नहीं गया बिलकुल सही है। संख्या को मापदंड मानना एक सामाजिक सवाल है, भाषा की संरचना-गत नहीं।

आंकड़ों की राजनीति के बारे में मैं अवश्य एक लेख संदर्भ में लिखूंगा। लेकिन यह तो 'दिलीप झा' भी मानते हैं कि असंख्य लोग जिन्हें हिन्दी भाषी कहा जाता है, उनके लिए हिन्दी पहली मातृभाषा नहीं है। झा जी को लगता है कि अंग्रेज़ी को अंतर्राष्ट्रीय भाषा बनाने के लिए कोई योजनाबद्ध प्रयास नहीं किया जा रहा है। अगर मैं आपसे कहूं कि बहुराष्ट्रीय कंपनियां अपने टी.वी., फ्रिज, कपड़े धोने की मशीन आदि बेचने के लिए कोई प्रयास नहीं कर रहीं तो क्या आप मेरी बात मानेंगे। भाषा बेचने के तरीके काफी गूढ़ (Subtle) होते हैं। विश्व भर में अलग-अलग तरीकों से अंग्रेज़ी-उद्योग चल रहा है। (उपनिवेशवाद के इतिहास के बारे में भी सोच कर देखिए।) आजकल एक ओर अंग्रेज़ी हटाने के प्रयास जारी हैं तो दूसरी तरफ विदेशी चीज़ों के साथ-साथ हम अंग्रेज़ी भी खरीद रहे हैं। हाल ही में ब्रिटिश काउंसिल ने व्यावसायिक अंग्रेज़ी में एक कार्यक्रम शुरू किया है। आखिर क्यों?

भारत एक बहुभाषी देश है – व्यक्ति विशेष के स्तर पर एवं सामाजिक इकाई के स्तर पर। हमारी संस्कृति, इतिहास एवं बौद्धिक विकास से यह बहुभाषिता अत्यधिक गहराई से जुड़ी है। धरोहर है हमारी यह। हम खो नहीं सकते इसे न अंग्रेज़ी के लिए, न हिन्दी के लिए। एक राज्य – एक धर्म – एक लोग – एक भाषा (यथा इंगलैंड, क्रिश्चियन – अंग्रेज़ – अंग्रेज़ी आदि) जैसे समीकरण भारत में सार्थक नहीं और अब, जैसे-जैसे संसार सिकुड़ता जा रहा है, कहीं भी नहीं। संविधान बनाते समय जो गहन व लम्बे वाद-विवाद हुए, उनमें ये प्रश्न मुख्य थे: भारत की राष्ट्र-भाषा क्या हो? क्या भाषा के आधार पर भारत में राज्य बनाए जाएं? इन प्रश्नों के उत्तर और उनके लिए किया गया संघर्ष एक लम्बी कहानी है। उस वक्त देश के सबसे अधिक प्रभावशाली नेता थे प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू। भाषा के प्रति पूर्णतया संवेदनशील, देश की बहुभाषिता से परिचित। भारत राष्ट्र की एक नहीं कई मुख्य भाषाएं हैं जो आठवीं अनुसूची (Schedule) में हैं। हिन्दी एक मुख्य भाषा है जो 'राजभाषा' मानी गई – राष्ट्रभाषा नहीं। हिन्दी की गरिमा बहुभाषिता का हिस्सा होने में है, न कि अन्य भाषाओं और बोलियों पर छा जाने में। और भाषा के आधार पर राज्य

बनाने में नेहरू सरकार ने जितनी देर हो सकी की। आंध्र प्रदेश पांच साल बाद बना तो हरियाणा पंजाब आदि 15 साल बाद। आखिर कौन फैसला करे कि कहां भोजपुरी खत्म होती है और हिन्दी शुरू, कहां तमिल खत्म होती है और मलयालम शुरू। और भाषा के आधार पर राज्य मांगने की क्या राजनीति होती है इससे आप परिचित हैं ही। भाषा तो केवल एक बहाना भर बनकर रह जाती है, एक अलग राज्य की मांग के लिए।

यदि हम भारत के दक्षिण, पूर्व तथा पश्चिम की ओर ध्यान से देखें तो हमें मालूम होगा कि हिन्दी व अंग्रेज़ी का प्रयोग वास्तव में बहुत कम होता है। बहुत ही कम परिवार ऐसे होंगे जिनके घर की भाषा हिन्दी या अंग्रेज़ी होगी। क्या हर समाज को अधिकार नहीं कि उसके बच्चों की प्राथमिक शिक्षा, बच्चे की अपनी भाषा (ओं) में हो? यह विचारणीय बात है कि किन कारणों की वजह से आमतौर पर यह मान लिया जाता है कि व्यावहारिक तौर पर दो ही भाषाएं व्यापक रूप से प्रयुक्त हो रही हैं – हिन्दी और अंग्रेज़ी। एक मुख्य कारण तो साफ है – मानकीकृत हिन्दी व अंग्रेज़ी को ही वह सामाजिक व राजनैतिक स्थान दिया गया है जिससे वह सत्ता पाने व बनाए रखने में सार्थक हैं। ब्रज व मैथिली बोलने वाला बच्चा हिन्दी जानता है, यह शायद सही है। सवाल यह है कि हमारी शिक्षा-प्रणाली व सामाजिक संरचना में ब्रज व मैथिली का क्या स्थान है? क्यों है?

सबरवाल जी का यह कहना कि 'आज की उपभोक्ता-संस्कृति में वही भाषा अहम् भूमिका निभाएगी, जो रोज़ी-रोज़गार से जुड़ी होगी' सही है। लेकिन क्या उपभोक्ता-संस्कृति हमें स्वीकार्य है? सबरवाल जी, इंसान तो खाना तब भी खाता था जब भाषा नहीं थी। एक बार फिर दोहरा दूं – भाषा मेरी पहचान है; मेरी संस्कृति का हिस्सा है; संसार को समझने का माध्यम है। केवल रोज़ी-रोटी नहीं है मेरे लिए मेरी भाषा। मेरी भाषा को कोई अन्य भाषा निगलती है तो वह मेरे अस्तित्व को निगलती है। 'अंगामी' बोलने वाले 'नागा' से बात करें। Ngugi wa Thiongo (अमेरिका नहीं अफ्रीका के हैं) की किताब 'डिकॉलोनाइज़िंग द माइंड'* पढ़ें। तेजस्विनी निरंजना की किताब* पढ़ें। आशिश नंदी की किताब पढ़ें। दोनों हिन्दुस्तानी हैं। कृष्ण कुमार* को पढ़ें।

'कविता शर्मा' ने बच्चों के भाषा सीखने के बारे में कुछ सवाल उठाए हैं। कविता जी इसमें कोई परेशानी की बात नहीं कि वयस्क, बच्चों से बात करते समय अपनी भाषा बदल लेते हैं। वास्तव में यह बदलाव बिल्कुल, नियमबद्ध तरीके से होते हैं – यथा 'र' के स्थान पर 'ल' आदि। इसी प्रकार की नियमबद्ध संरचनात्मक तब्दीलियां हम लोग अपनी भाषा में विदेशी लोगों से बात करते समय करते हैं। यह संरचना के सरलीकरण का एक प्रयास है।

हां, हैरानी की बात यह अवश्य है कि इस प्रकार की तोड़ी-मरोड़ी, टूटी-फूटी भाषा सुनने के बाद भी बच्चा भाषां के सही नियम पकड़ लेता है और एक चरण-विशेष के बाद अपने परिवेश की भाषा में कोई त्रुटि नहीं करता। शीघ्र ही स्वयं 'मेला' व 'मेरा' में अन्तर पकड़ लेता है। यदि उसका परिवेश 'शाम' व 'साम' जैसे शब्दों को अलग-अलग तरह से नहीं बोलता तो वह कहां से 'श' और 'स' में अन्तर सीख जाएगा। मानकीकृत हिन्दी के प्रचार हेतु यदि आप उसे 'श' और 'स' में अन्तर सिखाना चाहते हैं, तो कक्षा में, परिवेश में वैसा ही स्वाभाविक वातावरण पैदा करना होगा जिससे कि बच्चा भाषा की शेष संरचना को स्वयं आत्मसात कर लेता है।

रमाकान्त अग्निहोत्री
दिल्ली

* Nandy, A. 1983. The Intimate Enemy: Loss and Recovery of Self Under Colonialism. Delhi: OUP

* Ngugi wa Thiongo. 1986. Decolonizing the Mind: The Politics of Language in African Literature. London: James Curry.

* Niranjana. T. 1992. Siting Translation: History Past - Structuralism and the Colonial Context. Berkley: University of California Press.

* Kumar, K. 1991. Political Agenda of Education: A study of Colonialist and Nationalist Ideas. Delhi: Sage Publication.